

Reg No 177/2008-2009

ISSN: 2322-0317

PSSH PERSPECTIVE *of*
SOCIAL SCIENCES
and HUMANITIES

An International Multidisciplinary Refereed Research Journal

VOL 2, NO 2

JULY - DECEMBER 2010

Biannual

Editor

Dr Hemant Kumar Singh

Assistant Professor

Economics Department

Madan Mohan Malviya PG College

Deoria (UP)

Publisher

Herambh Welfare Society

Varanasi (India)

जैनधर्म में समाधिमरण की अवधारणा एवं उसकी उपादेयता

ऋषिका वर्मा^१

भारतीय मनीषियों ने जितना जीवन के विषय में चिंतन किया है, उतना ही मृत्यु के विषय में भी सोचा है। जीवनकला के साथ-साथ उन्होंने मृत्युकला पर भी गहरा मनन किया है और इस रहस्य को प्राप्त कर लिया है कि मृत्यु के समय हम किस प्रकार हँसते हुए शान्ति और कृतकृत्यता का अनुभव करते हुए प्राणों को छोड़ सकते हैं। देहत्याग के समय हमें कोई मानसिक उद्वेग या चिन्ता न हो। जिस प्रकार हम अपने पुराने-फटे वस्त्रों को उतार कर नवीन वस्त्र धारण करते हैं, उसी प्रकार की अनुभूति देहत्याग के समय होनी चाहिए। जिस प्रकार पथ पर चलता हुआ पथिक लक्ष्य पर पहुँचकर विश्रान्ति का अनुभव करता है, उसी प्रकार की शान्ति और विश्रान्ति का अनुभव हमें देहत्याग के समय होना चाहिए। हमारी दृष्टि इसी प्रकार की होनी चाहिए। जीवन का यह दृष्टिकोण मृत्यु की कला है और इस कला को सीखाने का सबसे अधिक प्रयत्न जैन मनीषियों ने किया है, जिसे समाधिमरण, संलेखना, संथारा आदि नामों से जाना जाता है।

जैन-परम्परा के सामान्य आचार-नियमों में संलेखना या समाधिमरण (स्वेच्छापूर्वक मृत्यु-वरण) एक महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं। जैन गृहस्थ, उपासकों एवं श्रमण साधकों, सबके लिए स्वेच्छापूर्वक मृत्यु-वरण का विधान जैन आगमों में उपलब्ध है। जैनागम-साहित्य ऐसे साधकों की जीवन-गाथाओं से भरा पड़ा है, जिन्होंने स्वेच्छया मरणव्रत अंगीकार किया था। अन्तकृतदशांग एवं अनुत्तरोपपातिक सूत्रों में उन श्रमण साधकों का और उपासक दशांगसूत्र में आनन्द आदि उन गृहस्थ साधकों का जीवन-दर्शन वर्णित है, जिन्होंने जीवन की सांध्य-बेला में स्वेच्छा-मरण का व्रत स्वीकारा था। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार मृत्यु के दो रूप हैं— 1. स्वेच्छा-मरण या निर्भयतापूर्वक मृत्युवरण और 2. अनिच्छापूर्वक या भयपूर्वक मृत्यु से ग्रसित होना।^१ स्वेच्छा-मरण में मनुष्य का मृत्यु पर शासन होता है, जबकि अनिच्छापूर्वक मरण में मृत्यु मनुष्य पर शासन करती है। पहले को पण्डितमरण या समाधिमरण भी कहा गया है और दूसरे को बाल (अज्ञानी) मरण या असमाधिमरण कहा गया है। एक ज्ञानीजन की मौत है और दूसरी अज्ञानी की, अज्ञानी विषयासक्त होता है और इसलिए वह बार-बार मरता है, जबकि यथार्थ ज्ञानी अनासक्त होता है

^१ शोध-छात्रा, U.G.C. (Net) S.R.F. दर्शन एवं धर्म विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

इसलिए वह एक ही बार मरता है।¹² साधकों के प्रति महावीर का सन्देश यही था कि मृत्यु के उपस्थित होने पर शरीरादि से अनासक्त होकर उसका आलिंगन करो।¹³ महावीर के दर्शन में अनासक्त जीवन—शैली की यही महत्त्वपूर्ण कसौटी है जो साधक मृत्यु से भागता है वह सच्चे अर्थ में अनासक्त जीवन जीने की कला से अनभिज्ञ है। जिसे अनासक्त मृत्यु की कला नहीं आती, उसे अनासक्त जीवन की कला भी नहीं आ सकती। इसी अनासक्त मृत्यु की कला को संलेखना व्रत कहा गया है। कषायों को नष्ट करने के लिए उनके निर्वाहक और पोषक कारणों को कम करते हुए कषायों को मन्द करना संलेखना व्रत है। यह व्रत वर्तमान शरीर का अन्त होने तक के लिए लिया जाता है। इसको मारणान्तिक संलेखना कहते हैं।

संलेखनापूर्वक होने वाली मृत्यु को जैन—आचारशास्त्र में समाधिमरण व पण्डितमरण कहा जाता है। इसे संथारा भी कहा जाता है। समाधिमरण व पण्डितमरण का अर्थ होता है स्वस्थ चित्तपूर्वक व विवकेयुक्त प्राप्त होने वाली मृत्यु। संथार अर्थात् संस्तारक। संस्तारक का अर्थ होता है बिछौना। चूँकि संलेखना में व्यक्ति संस्तारक ग्रहण करता है अर्थात् आहारादि का त्याग कर बिछौना बिछाकर शान्त चित्त से एक स्थान पर लेटा रहता है इसलिए इसे संथारा कहते हैं। जब व्यक्ति का शरीर इतना निर्बल हो जाता है कि वह संयम अर्थात् आचार के पालन के लिए सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध होता है तब उससे मुक्त होना ही साधक के लिए श्रेयस्कर होता है। दूसरे शब्दों में, शरीर किसी काम का न रह कर भारभूत हो जाता है तब उससे मुक्ति पाना ही श्रेष्ठ होता है। ऐसी अवस्था में बिना किसी प्रकार का क्रोध किये प्रशान्त एवं प्रसन्न चित्त से आहारादि का त्याग कर आत्मिक चिन्तन करते हुए समभावपूर्वक प्राणोत्सर्ग करना संलेखना व्रत का महान उद्देश्य है। आचार्य समन्तभद्र संलेखना की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि आपत्तियों, अकालों, अतिवृद्धावस्था एवं असाध्य रोगों में शरीर त्याग करना संलेखना है। अर्थात् जब मृत्यु अनिवार्य—सी हो गयी हो उन स्थितियों में निर्भय होकर देहासक्ति का विसर्जन कर मृत्यु का स्वागत करना ही संलेखना—व्रत है।¹⁴

जन्म लेनेवालों की मृत्यु अवश्यंभावी हैं। जन्म के साथ मृत्यु अनिवार्य रूप से सम्बद्ध है। जन्म अगर किसी जीवन का प्रारम्भ है तो मृत्यु उस जीवन का अवसान है और यही सत्य है। मृत्यु के पाश से किसी भी प्राणी का बच पाना संभव नहीं है। इस सनातन सत्य को जानते हुए भी प्राणी अपनी मृत्यु को टालने का यथाशक्ति प्रयास करता है और दुःखी होता है। अपने इस प्रयत्न में कदाचित् जीवन के आनन्द से भी वंचित रह जाता है। मनुष्य को इस त्रासदी की भयावहता से मुक्त रखने के लिए ममर्ज्ञ विद्वानों ने अनेक बार इस बात का उद्घोष किया है—‘जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः’ अर्थात् जन्म लेनेवालों की मृत्यु सुनिश्चित है। मृत्यु जन्मधारी के लिए शाश्वत सत्य है।

जैनधर्म मुख्य रूप से निवृत्तिप्रधान धर्म है। निवृत्तिप्रधान धर्म होने के कारण इसमें सांसारिक जीवन और भौतिक सुखों की उपलब्धि की उपेक्षा की गई है तथा मानव जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण माना गया है। जैनधर्म के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति के लिए नवीन कर्मबन्ध को रोकना होता

है। साथ ही साथ पूर्व संचित कर्मों का भी क्षय करना होता है। इन्हें क्रमशः संवर और निर्जरा के द्वारा पूर्ण किया जाता है।

सामान्य रूप से व्यक्ति राग-द्वेष से ग्रसित रहता है। वह देह के प्रति मोहभाव रखता है। फलतः वह नानाप्रकार के दुःखों को सहता है, क्योंकि देह के प्रति रागभाव और देह के विनाश के कारणों प्रति द्वेषभाव होने से वह समभाव प्राप्त नहीं कर पाता है। वह अपने प्रियजनों की मृत्यु अथवा स्वयं की मृत्यु की सम्भावना से सदैव भयभीत रहता है। लेकिन जो ज्ञानी है, वे ऐसा नहीं समझते हैं। वे अपनी मृत्यु से नहीं डरते हैं। उनके अनुसार तो मृत्यु जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी पिंजरे से आत्मा को छुटकारा दिलाती है, अतः यह तो कल्याणकारी मित्र है। ऐसी निराकांक्ष समभाव मृत्यु को मृत्यु महोत्सव (समाधिमरण) कहा गया है।⁵

जैनागमों में मृत्यु-वरण के अवसरों की अपेक्षा के आधार पर समाधि-मरण के दो प्रकार कहे गये हैं— 1. सागारी संधारा और 2. सामान्य संधारा। अकस्मात् जब कोई ऐसी विपत्ति उपस्थित हो जाए कि जिसमें से जीवित बच निकलना सम्भव न हो, जैसे आग में घिर जाना, जल में डूबने जैसी स्थिति हो जाना अथवा हिंसक पशु या किसी ऐसे दुष्ट व्यक्ति के अधिकार में फँस जाना, जहाँ सदाचार से पतित होने की संभावना हो। ऐसे संकटपूर्ण अवसरों पर जो संधारा ग्रहण किया जाता है उसे सागारी संधारा कहते हैं और जब स्वाभाविक जरावस्था अथवा असाध्य रोग के कारण पुनः स्वस्थ होकर जीवित रहने की समस्त आशाएँ धूमिल हो गयी हों, तब यावज्जीवन तक जो देहासक्ति एवं शरीर-पोषण के प्रयत्नों का त्याग किया जाता है वह सामान्य संधारा है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि समाधिमरण करने वाला मनुष्य अनशन आदि द्वारा शरीर का अन्त करता है। यह तो आत्महत्या है और यह स्वहिंसा ही है। फिर इसको व्रत मानकर त्यागधर्म में स्थान देना कहा तक उचित है?

इसके उत्तर में जैनियों का विचार है कि यह भले ही दुःख या प्राण नाश दिखाई दे, पर इतने मात्र से यह व्रत हिंसा की कोटि में नहीं आता। वास्तविक हिंसा का स्वरूप तो राग, द्वेष एवं मोह की वृत्ति से ही बनता है। संलेखना व्रत में प्राणनाश है, पर वह राग, द्वेष एवं मोह के न होने से हिंसा की कोटि में नहीं आता, अपितु निर्माहत्व और वीतरागत्व साधने की भावना से ही यह व्रत उत्पन्न होता है और इस भावना की सिद्धि के प्रयत्न के कारण ही यह व्रत पूर्ण होता है। इसलिए यह हिंसा नहीं है। अपितु शुभध्यान अथवा शुद्धध्यान की कोटि का होने से इसको त्यागधर्म में स्थान प्राप्त है।⁶

वस्तुतः समाधि-मरण न तो मरणाकांक्षा है और न आत्महत्या ही। व्यक्ति आत्महत्या या तो क्रोध के वशीभूत होकर करता है या फिर सम्मान या हितों को गहरी चोट पहुँचने पर अथवा जीवन से निराश हो जाने पर करता है, लेकिन यह सभी चित्त की सांवेगिक अवस्थाएँ हैं, जबकि समाधिमरण तो चित्त की समत्व अवस्था है। अतः उसे आत्महत्या नहीं कह सकते। दूसरे, आत्महत्या या आत्मबलिदान में मृत्यु को निमन्त्रण दिया जाता है। व्यक्ति के

अन्तस् में मरने की इच्छा छिपी रहती है, लेकिन समाधिमरण में मरणाकांक्षा का न रहना ही अपेक्षित है, क्योंकि समाधिमरण के प्रतिज्ञासूत्र में ही साधक यह प्रतिज्ञा करता है कि मृत्यु की आकांक्षा से रहित होकर आत्ममरण करूँगा (काल अकंखमाणे विहरामि।) जैन विचारकों ने तो मरणाशांसा को समाधिमरण का दोष ही कहा है। अतः समाधिमरण हो आत्महत्या नहीं कह सकते। जैन विचारकों ने इसीलिए सामान्य स्थिति में शस्त्रवध, अग्निप्रवेश या गिरिपतन आदि के द्वारा तात्कालिक मृत्युवरण को अनुचित ही माना है, क्योंकि ऐसा करने में मरणाकांक्षा की सम्भावना है। समाधि-मरण में आहारादि के त्याग में मृत्यु की चाह नहीं होती, मात्र देह-पोषण का विसर्जन किया जाता है। मृत्यु उसका परिणाम अवश्य है, लेकिन उसकी आकांक्षा नहीं।

समाधिमरण और आत्महत्या में एक मौलिक अन्तर यह भी है कि आत्महत्या में व्यक्ति जीवन के संघर्षों से ऊबकर जीवन से भागना चाहता है। उसके मूल में कायरता है, जबकि समाधिमरण में देह और संयम की रक्षा के अनिवार्य विकल्पों में से संयम की रक्षा के विकल्प को चुनकर मृत्यु का साहसपूर्वक सामना किया जाता है। समाधिमरण में जीवन से भागने का प्रयास नहीं वरन् जीवन संध्या बेला में द्वार पर खड़ी मृत्यु का स्वागत है। आत्महत्या में जीवन से भय होता है, जबकि समाधिमरण में मृत्यु से निर्भयता होती है। आत्महत्या असमय में मृत्यु का आमन्त्रण है, जबकि संथारा या समाधिमरण मात्र मृत्यु के उपस्थित होने पर उसका सहर्ष आलिङ्गन है। आत्महत्या के मूल में या तो भय होता है या कामना होती है, जबकि समाधिमरण में भय और कामना दोनों की ही अनुपस्थिति आवश्यक होती है।¹⁷

समाधिमरण की प्रक्रिया न केवल शरीर व्युत्सर्ग की प्रक्रिया है, अपितु कषाय व्युत्सर्ग की भी प्रक्रिया है। इसमें आत्मशोधन या चित्तशोधन भी प्रमुख हैं। जैन परम्परा में समाधिमरण की साधना को मुख्य रूप से देह के प्रति ममत्वत्याग या देहासक्ति से ऊपर उठने के साथ ही साथ आत्मशोधन या आत्मानुभूति की प्राप्ति माना गया है। यह मरणकाल में उपस्थित होनेवाली बाधाओं से साधक को दूर रखती है जिससे कि उसके हृदय में व्याकुलता का भाव नहीं पनपता है। यह चेतना के अन्तर्मुखीकरण की प्रक्रिया है जो व्यक्ति में समत्व का भाव जगाती है, जिससे वह जीवन और मृत्यु दोनों ही परिस्थितियों में 'सम' बना रहता है। वह मृत्यु को भी जीवन की तरह ही एक आवश्यक प्रक्रिया समझता है। यही कारण है कि समाधिमरण को मृत्युकला के रूप में जाना जाता है।

जीवन की अन्तिम बेला में अथवा किसी आसन्न संकटापन्न अवस्था में इधर-उधर के विक्षेप, माया-ममता, वैभव-विलास, ललक-लालसा से पृथक् होकर अपनी स्वीकृत साधना, आत्म-मन्थन के प्रति एक रूप होकर तथा सभी पाप, ताप, संन्ताप, समग्र आसक्ति-प्रीति से विमुक्त होकर अनशनपूर्वक देह पर ममत्व का त्याग करने का नाम ही समाधिकरण है। साधन की इस अन्तर्मुखी स्थिति में साधक परिवार, घर, जड़, चेतन आदि सभी पदार्थों से आसक्ति का त्याग करता है। अपनी समग्र शक्ति अर्थात् आत्मा, मन, प्राण आदि को इस समत्व-साधना के साथ एकनिष्ठ तथा एकरस कर देता है। साधक को लौकिक और पारलौकिक दोनों ही संसार का आकर्षण नहीं रहता

है। सभी ओर से सिमट कर वह विशुद्ध आत्म-परिणति में विचरण करता है। इस प्रकार समाधिमरण विशुद्ध चारित्र से युक्त आत्मभाव में आत्मा के रमण करने का नाम है।

मृत्यु के समय कषायों एवं विषय-वासनाओं की न्यूनाधिकता के अनुसार आत्म-परिणामों पर अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ता है। अतः मरण को सुधारने या अच्छा बनाने के लिए जीवन के अन्तिम क्षण में समाधिमरण लिया जाता है। समाधिमरण के द्वारा अनन्त संसार की कारणभूत कषायों का आवेग उपशमित या क्षीण हो जाता है, जिसके कारण जन्म-मरण का प्रवाह समाप्त हो जाता है।⁹ जन्म-मरण के प्रवाह के समाप्त होने का अर्थ यहाँ निर्वाण या मुक्ति से लिया गया है, क्योंकि निर्वाण या मुक्ति का अर्थ ही होता है बुझ जाना या मुक्त हो जाना। बुझने का अर्थ जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होना है।

मृत्यु अवश्यभावी है इससे बचा नहीं जा सकता है। अतः तप, संयम, समाधि आदि से जीवन को लाभान्वित करना चाहिए। तप, संयम, आदि व्रतों का पालन करते हुए शान्तिपूर्वक जो मृत्यु प्राप्त होती है, वह समाधिमरण ही है।⁹ महर्षि मृगापुत्र ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप आदि शुद्ध भावनाओं के द्वारा श्रामण्य धर्म का पालन करते हुए इस अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त किया था।¹⁰

जैन आचार्यों की दृष्टि में मानव शरीर की अपेक्षा धर्म या नैतिक मूल्यों की रक्षा का ज्यादा महत्व है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अगर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाए जिसमें धर्म और शरीर दोनों ही के नष्ट होने की सम्भावना हो अथवा धर्म की रक्षा शरीरत्याग से सम्भव हो तो धर्म रक्षार्थ शरीर का त्याग करना श्रेयस्कर है। लेकिन इस शरीरत्याग में व्यक्ति के मन में मरने या जीने की आकांक्षा नहीं रखनी चाहिए। अगर किसी चीज की आकांक्षा रहे भी तो मात्र धर्म या नैतिक मूल्यों की रक्षा की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति धर्म की रक्षा के लिए भी समाधिमरण करता है। जब वह अशक्य तथा असहाय हो जाता है, इन्द्रियाँ अपने कार्यों का सम्पादन सम्यक् रूप से नहीं कर पाती हैं तथा वृद्धावस्था या किसी अन्य कारण से शरीर भारयुक्त लगने लगता है एवं किसी आकस्मिक कारण से प्राण जाने का भय रहता है, तब व्यक्ति समभावपूर्वक अपना देहत्याग करता है। समत्व का भाव इसलिए आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना ग्रहण की गई मृत्यु समाधिमरण नहीं कहला सकती। कारण कि समत्व के अभाव में व्यक्ति के मन में जीवन या मृत्यु के प्रति राग-द्वेष का भाव होना स्वाभाविक है और यह भाव उसे अपने पथ से भ्रष्ट कर देता है। पथभ्रष्ट व्यक्ति अपने धर्म की रक्षा नहीं कर सकता। अतः उसका देहत्याग धर्मरक्षण के लिए न होकर मात्र-देहत्यागवृत्ति की रक्षा का परिचायक होगा, जो वस्तुतः समाधिमरण नहीं कहलाता।

समाधिमरण करने से व्यक्ति को वे सभी फल प्राप्त हो जाते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिए वह जीवन भर तप, अहिंसादि व्रतों को धारण किए रहता है।

व्यक्ति अपनी आत्मशुद्धि के लिए ही जीवन भर कठिन तप एवं ध्यान-साधना में रत रहता है। यही आत्मशुद्धि व्यक्ति को जीवन के अन्तिम क्षण में समाधिपूर्वक शरीरत्याग करने से प्राप्त हो जाती है।¹¹ विभिन्न शास्त्रों की परिचर्या तथा विद्वानों की संगति और इसी तरह के अन्यान्य कार्य व्यक्ति अच्छे जीवन पाने के लिए करता है, इन सभी की प्राप्ति समाधिपूर्वक शरीरत्याग करने से भी सम्भव हो सकती है।¹²

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जैनधर्म में समाधिमरण का उद्देश्य देह का विनाश करना नहीं है, अपितु उस स्थिति में जब शरीर का त्याग अपरिहार्य हो गया हो तब उसके पोषण के प्रयत्नों को त्याग करके उसके प्रति ममत्व को दूर कर लेना है, ताकि देहत्याग की बेला में चित्त की समाधि बनी रहे। समाधिमरण का निश्चय चित्त की विकलता को दूर करने के लिए किया जाता है। अतः जैनधर्म में समाधिमरण को साधना का एक अंग माना गया है, जिसकी सहायता से मन में आए विकलता के भाव को दूर किया जा सके। व्यक्ति में सबसे अधिक रागात्मकता अपने शरीर के प्रति ही होती है और शरीर के प्रति यह रागात्मकता समाधिमरण के निश्चय द्वारा ही छोड़ी जा सकती है। इसलिए समाधिमरण साधना का सर्वश्रेष्ठ रूप माना गया है।¹³

जहाँ तक यह प्रश्न है कि व्यक्ति को मृत्यु के चयन का अधिकार है या नहीं? तो कहा जा सकता है कि यदि व्यक्ति को किन्हीं मूल्यों के संरक्षण के लिए जीने का अधिकार है, तो किन्हीं मूल्यों के संरक्षण के लिए उसे मृत्यु का अधिकार भी मिलना चाहिए।

अतः कहा जा सकता है कि समाधिमरण की अवधारणा का जो अर्थ है वह जीवन से पलायन का नहीं है वरन् जीवन के द्वार पर दस्तक दे रही मृत्यु को शान्त चित्त और सजगता से आमंत्रण देना है। समाधिमरण न तो जीवन से भागना है और न मृत्यु से, अपितु जीवन को मूल्ययुक्त बनाकर जीना है और आयी हुई मृत्यु का स्वागत करना है।¹⁴ वस्तुतः समाधिमरण का व्रत हमारे आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों के संरक्षण के लिए ही लिया जाता है और इसलिए पूर्णतः नैतिक भी है।

सन्दर्भ-सूची

1. उत्तराध्ययन, 5 |2।
2. उत्तराध्ययन, 5 |3।
3. उत्तराध्ययन, 5 |32।
4. मेहता, डॉ. मोहनलाल, जैन धर्म-दर्शन-एक समीक्षात्मक परिचय, सेठ-मूथा छगनमल मेमोरियल फाउण्डेशन, प्रकाशन वर्ष, 1999, पृष्ठ सं. 558-560
5. आउरपच्चक्खाणं (दस पयण्णा), गाथा 11, पृष्ठ, 5-6
6. संघवी, पं० सुखलाल, तत्त्वार्थसूत्र, पृष्ठ सं० 182-183।
7. जैन, डॉ. सागरमल, जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, प्रकाशन वर्ष, 1992, पृष्ठ 435-445
8. तत्त्वार्थवार्तिक, 7 |22।

9. एव नाणेण चरणेण, दंसणेण तवेण य ।
भावणाहि य सुद्धाहिं, सम्मं भावेत्तु अप्पयं ।। उत्तराध्ययनसूत्र, 19।94।
10. बहुयाणि उ वासाणि सामण्णमणुपालिया ।
मासिएण उ भत्तेण सिद्धिं पत्तो अणुत्तरं ।। उत्तराध्ययनसूत्र, 19।95।
11. सत्फलं प्राप्तयते सद्धिः व्रताया सविडम्बनात् ।
तत्फलं सुख साध्यं स्यात्मृत्युकाले समाधिना ।। मृत्युमहोत्सव, 14।
12. तप्तस्य तपश्चापि पालितस्य व्रतस्य च ।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलंमृत्युः समाधिना ।। मृत्युमहोत्सव, 16।
13. अगर्भा दुःख संतप्तः प्रिक्षिप्तो देहपंजरो ।
नात्मा विमुच्यते न्येन मृत्यु भूमिपतिं बिना ।। मृत्युमहोत्सव, 5।
14. कुमार, डॉ. रज्जन, समाधिमरण, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, पृष्ठ 211।